स्वामी दयानन्द और १८५७ का गदर

भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम या राष्ट्रव्यापी हलचल में स्वामी दयानन्द का कितना और कैसा योगदान रहा ? इस संबंध में अपनी संभावनायें प्रस्तुत करते हुए पं. जयचन्द्र विद्यालंकार ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन' में कुछ विवेचना की है। उनकी कुछ उपपत्तियां इस प्रकार हैं—सन् १८४७ में नर्मदा के किनारे महाराष्ट्र संन्यासियों की एक मण्डली से वे (दयानन्द) मिले जिसके नेता पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास दीक्षा और दयानन्द नाम पाया। इसके बाद भी पूर्णानन्द और उनके साथियों के सम्पर्क में रहे जिनका इनपर, इनकी जीवन—यात्रा की पहली मंजिल में विशेष प्रभाव पड़ता रहा।" विद्यालंकारजी आगे लिखते हैं—"१८५५ में दयानन्द हरिद्वार में कुम्भ मेले पर पूर्णानन्द से मिलने जा रहे थे तब उत्तर भारत की जनता में स्वतन्त्र होने के लिये उभार आ रहा था।" (पृ.७)

हम देखते हैं कि विद्यालंकारजी को स्पष्ट ही कुछ भ्रांतियां हुई हैं और वे स्वयं भी अपने चिंतन की विसंगतियों से परिचित भी हैं। प्रश्न यह है कि जिन महाराष्ट्र संन्यासी स्वामी पूर्णानन्द से दयानन्द ने चतुर्थाश्रम की दीक्षा ली क्या फिर कभी उनसे स्वामी दयानन्द की भेंट हुई? क्या ये वही पूर्णानन्द हैं जिनसे पढ़ने के लिये वे हरिद्वार गये थे परन्तु वह उस समय बहुत वृद्ध हो गये थे और उन्होंने मौनव्रत धारण कर रखा था, इसलिये वे दयानन्द को पढ़ाने के लिये सहमत नहीं हुये। जब बहुत आग्रह किया गया तो उन्होंने एक कागज पर लिख दिया कि तुम मथुरा जाकर विरजानन्द से पढ़ो तो तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा। संन्यास की दीक्षा देने वाले और हरिद्वार कुम्भ मेले में जिनसे भेंट हुई वे पूर्णानन्द एक ही व्यक्ति हैं या दो, यह स्पष्ट शंका विद्यालंकारजी को भी है। परन्तु इसका उत्तर स्पष्ट है। दोनों को एक मानना संभव नहीं। स्वामी दयानन्द के दीक्षागुरु स्वामी पूर्णानन्द महाराष्ट्र के थे जबकि विरजानन्द के दीक्षागुरु स्वामी पूर्णाश्रम (अथवा पूर्णानन्द) गौड़ ब्राह्मण थे जिनका मूल निवास हरियाणा था।

इस बात की अधिक चिंता किये बिना कि दयानन्द के दीक्षा गुरु पूर्णानन्द और जिन पूर्णानन्द से उनकी भेंट १८५५ ई० में हरिद्वार में हुई, एक ही हैं अथवा नहीं, पं. जयचन्द्रजी अपने चिंतन को आगे बढ़ाते हैं—"बहुत संभवतः दयानन्द सरस्वती ने भी इसी समस्या पर परामर्श के लिये हरिद्वार का रास्ता पकड़ा था।

Scanned by CamScanner

पर इनके प्रश्न सुनकर बूढ़े पूर्णानन्द ने कहा–इन प्रश्नों पर हमारे शिष्य विरजानन्द ने विशेष विचार किया है उनके पास मथुरा जाओ।' विद्यालंकारजी का अनुमान है कि शायद देश को कैसे स्वाधीन किया जाय? इस समस्या पर स्वामी दयानन्द ने पूर्णानन्द के विचार जानने चाहे होंगे, परन्तु अपनी अत्यधिक जीर्णदशा के कारण उन्होंने स्वयं दयानन्द से एतद्विषयक विचार–विमर्श न कर अपने प्रौढ़ राजनीति–चिन्तक शिष्य विरजानन्द के समीप जाने का उन्हें निर्देश दिया।

स्वामी विरजानन्द के जीवनी लेखक इस बात से सहमत हैं कि स्वामी पूर्णाश्रम अष्टाध्यायी व्याकरण के निष्णात पण्डित थे। देवेन्द्रनाथ की स्पष्ट सम्मति है कि पूर्णाश्रम स्वामी पाणिनि आदि आर्ष–ग्रन्थों के प्रचार के पथ–प्रदर्शक थे। यह तो निश्चित ही है कि उस समय पूर्णाश्रम स्वामी अपनी असाधारण शास्त्रदर्शिता और आर्य–ग्रन्थों के पक्ष के लिये साधु मण्डली और पण्डित मण्डली में विशेष ख्याति रखते थे। 'विरजानन्द प्रकाश' के मनस्वी लेखक पं भीमसेन शास्त्री ने भी उनके विषय में लिखा है–"(स्वामी पूर्णानन्द) अष्टाध्यायी आदि आर्षग्रन्थों के बड़े श्रद्धालु थे और उनकी यह श्रद्धा उनके शिष्यों में भी संक्रान्त हुई थी।" उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए यह तो अनुमान करना संगत है कि दयानन्द आर्ष शास्त्रानुशीलन हेतु पूर्णानन्द के समीप उपस्थित हुये थे परन्तु उनकी शारीरिक अशक्यता को देखकर तथा उनका परामर्श स्वीकार कर वे विरजानन्द के निकट जाने के लिये तत्पर हुये। परन्तु यह संभावना कैसे की जा सकती है कि वे अंग्रेज़ी शासन से देश को मुक्त करने का कोई मंत्र ढूंढ़ने स्वामी पूर्णानन्द के निकट गये जबकि दयानन्द के तत्कालीन चिंतन और मानसिक उद्वेलन का मुख्य विषय धर्म और शास्त्र के प्रकृतस्वरूप की जिज्ञासा ही थी।

पं. जयचन्द्रजी ने अपने इस अनुमान को सिद्ध करने के लिये कि १८५७ की हलचल में स्वामी दयानन्द का किसी–न–किसी रूप में हाथ अवश्य रहा होगा, अपनी पूर्व–व्यक्त उपपत्ति की पुष्टि में आगे लिखा–'दयानन्द ने हरिद्वार से गढ़वाल जाने का संकल्प कर रखा था। उस यात्रा से लौट मथुरा जाना तय किया। किन्तु गढ़वाल से गढ़मुक्तेश्वर लौट आगे दक्षिण–पश्चिम जाने की बजाय वे दक्षिण–पूर्व चले गये मथुरा की बजाय कानपुर और आगे पांच बरस तक विरजानन्द के पास जाने का संकल्प टाले रखा। प्रकटतः किसी महत्वपूर्ण के कार्य से इसी बीच इनका सम्पर्क हुआ था जो इन्हें कानपुर खींच ले गया था। कानपुर के पास बिठूर में तब इनके समवयस्क नानासाहब धोंडोपन्त और उनके साथी भारत की स्वतंत्रता के लिये एक बड़े प्रयत्न का आरम्भ और उसके लिये योग्य सहयोगियों की खोज कर रहे थे। साधु–संन्यासियों के सहयोग का उनके लिये विशेष मूल्य था।' पं. जयचन्द्रजी का तर्क इस बात पर आश्रित है कि यदि दयानन्द को मथुरा ही जाना था तो वे कानपुर क्यों चले गये और उसके बाद भी लगभग ३ वर्ष तक नर्मदा के आरण्यक तटों का परिभ्रमण कर उन्होंने अज्ञातावस्था में कालयापन क्यों किया? परन्तु किसी

Scanned by CamScanner

पर्यटनप्रिय परमहंस से यह पूछना कि उसने अमुक–अमुक समय मे अमुक–अमुक स्थानो का भ्रमण क्यों किया, विशेष सार्थकता नहीं रखता। जब तक दयानन्द ने अपने जीवन का लक्ष्य सुस्थिर नहीं कर लिया तब तक तो उनका देशाटन पूर्णत उनकी स्वतंत्र इच्छा का ही अनुगामी था। अत कानपुर प्रवास के आधार पर नाना साहब से उनका सम्पर्क स्थापित करने का उल्लेख कल्पनाश्रित ही है, तथ्याश्रित नहीं।

१८५७ के संग्राम के अन्तिम रूपसे विफल हो जाने के लगभग दो वर्ष पश्चात् स्वामी दयानन्द १८६० ई० में विरजानन्द की पाठशाला मे आये। पं. जयचन्द्रजी के अनुसार १८५७–५६ वाले प्रयास के विफल होने के बाद उसकी विफलता के कारणों और उन्हें दूर करने के उपायों पर विचार करने की आवश्यकता थी और दयानन्द ठीक तभी जान पड़ता है वैसा विचार करने के लिये ही–विरजानन्द के पास पहुंचे। यह कथन भी अनुमानाश्रित ही है क्योंकि दयानन्द और विरजानन्द का पारस्परिक विचार और संवाद मुख्यतः शास्त्र–विषयक ही होता था। ज्ञानोपार्जन की प्रबल जिज्ञासा लेकर ही दयानन्द प्रज्ञाचक्षुजी के निकट गये थे। पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार विरजानन्द का संवाद दयानन्द को उत्तराखण्ड की यात्रा से पहले मिला था। पं. लेखराम के अनुसार नर्मदातट परिभ्रमण के समय उन्होंने किसी से विरजानन्द की विद्वत्ता की प्रशंसा सुनी थी। दोनों में से कोई भी बात सत्य हो, इतना निश्चित है कि निश्चिन्त होकर अध्ययन कार्य में प्रवृत्त होने से पहले वे काशी आदि स्थांनों पर विद्वानों का अन्वेषण तथा नर्मदा के उत्पत्ति स्थल का भ्रमण कर लेना चाहते थे। इसी हेतु उन्होंने उत्तराखण्ड भ्रमण तथा नर्मदा तट भ्रमण में लगभग ४ वर्ष व्यतीत किये। इन वर्षों में उनकी कोई गुप्त राजनीतिक प्रवृत्ति उद्बुद्ध होकर १८५७ की क्रान्ति का नेतृत्व या संचालन करने की प्रेरणा दे रही थी, यह अद्यापि असिद्ध ही है।

पं. जयचन्द्र की एतद्विषयक शेष उपपत्तियां तो प्रायशः अनुश्रुतियों अथवा अनुमानों पर ही आश्रित हैं। यथा उन्होंने बनारस के उदासी मठ के सत्यस्वरूप शास्त्री के कथन को उद्धृत करते हुए लिखा है कि साधु सम्प्रदाय में तो बराबर यह अनुश्रुति चली आती है कि दयानन्द ने १८५७ के संघर्ष में महत्वपूर्ण भाग लिया था। परन्तु इस अनुश्रुति का आधार क्या है, यह कोई नहीं बताता। सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में सं० १६१४ वि. के वर्ष में अंग्रेजों का तोपों से मूर्तियों को उड़ा देना और इस संदर्भ में बाघेर लोगों की वीरता का उल्लेख एक अन्य अनुमान है, जिसके आधार पर पं. जयचन्द्र ने लिखा इस तरह की बात कोई ऐसा व्यक्ति ही लिख सकता है जिसने बाघेरों के संघर्ष को निकट से देखा या सुना हो और जिसके दिल में यह कशिश रह गई हो कि काश इनका कोई श्रीकृष्ण जैसा नेता रहा होता। "अनुमान सर्वथा निर्दोष ही है, परन्तु इससे १८५७ की राजनीतिक गतिविधियों में दयानन्द के सक्रिय रूप से भाग लेने की बात सिद्ध नहीं होती।

Scanned by CamScanner

वस्तुतः श्री पृथ्वीसिंह महता विद्यालंकार ने 'हमारा राजस्थान' नामक अपनी पुस्तक मे स्वामी विरजानन्द और स्वामी दयानन्द की १८५७ के विप्लव में किसी न किसी रूप मे योग देने की संभावनाओं का सुव्यवस्थित आकलन करने का सराहनीय प्रयास किया था। प. जयचन्द्र ने भी अपने विवेचन का आधार महताजी की उपर्युक्त पुस्तक को ही बनाया है। श्री पृथ्वीसिंह महता ने 'हमारा राजस्थान' के सातवे अध्याय 'अर्वाचीन राजस्थान' के अन्तर्गत स्वामी दयानन्द को भारतीय जागृति का अग्रदूत मानते हुए जो विवेचन प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है

"मार्च १८५७ तक वह (दयानन्द) प्रायः गंगा के साथ–साथ गंगोत्तरी और बद्रीनाथ से बनारस तक गढ़वाल, रुहेलखण्ड, दोआबा और काशी के प्रदेश में घूमता रहा, जहां क्रान्ति की तैयारियां जनता में भीतर–ही–भीतर जोरों से की जा रही थीं। १८५६ के मई मास में वह नाना के नगर कानपुर गया और आगे पाँच मास तक कानपुर, इलाहाबाद के बीच ही चक्कर काटता रहा। फिर बनारस, मिर्जापुर, चुनार होकर मार्च १८५७ में जब क्रान्ति की तैयारियां लगभग पूरी हो चुकीं..... ...तब दयानन्द भी बनारस से मिर्जापुर, चुनार होकर नर्मदा स्रोतों के लिये दक्खिन की ओर निकल पड़ा। अपने आरम्भिक जीवन का परिचय देने के लिए दयानन्द की स्वलिखित जीवनी का यहां आकर एकाएक अंत हो जाता है। आगे तीन साल क्रान्तियुद्ध के दिनों में वह कहां रहा और क्या करता रहा इसकी कोई सूचना उसने कभी नहीं दी। यह कहना तो कठिन है कि क्रान्तियुद्ध या उसके संगठन के प्रति उसका रुख क्या रहा और उसने भी उसमें कोई भाग लिया या नहीं, तो भी उसकी जीवन घटनाओं की तिथियों का जो संक्षिप्त–सा विवरण ऊपर दिया गया है उनसे यह बात तो स्पष्ट हो ही सकती है कि क्रान्ति की तैयारियों आदि से उसे निकट परिचय करने का अवसर अवश्य मिला। यह बात मान लेना आसान नहीं है कि दयानन्द के सदृश भावना प्रवण और चेतनवान् हृदय और मस्तिष्क का युवक उसके प्रभाव से अछूता बचा रहा हो और उस युद्ध की सफलता–विफलता की उस पर कोई प्रतिक्रिया न हुई हो। अतः उसकी उन तीन वर्षों के बारे में यह पूरी चुप्पी भी कम अर्थभरी नहीं प्रतीत होती।"

जहां तक स्वामी दयानन्द की आत्मकथा के 'नर्मदा–स्रोत गवेषण' प्रसंग पर आकर समाप्त हो जाने का प्रश्न है, बात नितान्त सीधी सादी है। जिस समय थियोसोफिस्ट में यह आत्मकथा प्रकाशित हो रही थी, उस समय तक उसके सम्पादकों के साथ स्वामीजी के मैत्रीपूर्ण संबंध थे, परन्तु कालान्तर में जब थियोसोफिकल सोसाइटी तथा आर्यसमाज के बीच सैद्धान्तिक अन्तर की खाई बढ़ गई तो न तो थियोसोफिस्ट के सम्पादकों को ही उनकी आत्मकथा छापने में कोई उत्साह रहा और न अपने व्यस्त कार्यक्रम एव जटिल संकुल दिनचर्या के कारण स्वामीजी ही स्वजीवनवृत्त की अगली किस्तें लिख पाये। इसी बीच उनका निधन भी हो गया। अतः यह वृत्तान्त अपूर्ण ही रहा। परन्तु महताजी की यह जिज्ञासा

Scanned by CamScanner

निश्चय ही महत्वपूर्ण है कि १८५७ की क्रान्ति तथा उसकी विफलता के प्रति दयानन्द की प्रतिक्रिया क्या रही होगी? निश्चय ही यह एक अन्वेषणीय प्रश्न है। परन्तु श्री पृथ्वीसिंह महता ने भी इसका कोई इदंइत्थम् उत्तर न देकर मात्र अपनी अनुमानाश्रित तर्कनाओं को ही प्रस्तुत किया है।

उर्युक्त उद्धरण के अतिरिक्त 'हमारा राजस्थान' से एक अन्य प्रासंगिक संदर्भ प्रस्तुत करना भी आवश्यक है। महताजी का विचार है कि विरजानन्द के निकट रहकर अढ़ाई वर्षों के अध्ययन प्रसंग में शास्त्रों के अध्ययन के अतिरिक्त देश की दशा पर भी गुरु–शिष्य दोनों का संवाद एकान्त में होता था जिसमें उन दोनों के सिवाय वहां तीसरा कोई व्यक्ति नहीं रहने पाता था। लेखक की इस निर्दोष धारणा के प्रति किसी का भी वैमत्य नहीं हो सकता परन्तु गुरु–शिष्य के एकान्त संवाद के विवेचनीय विषय क्या रहे होंगे, इन्हें भी किसी अन्य व्यक्ति की अनुपस्थिति में सिवाय अन्तर्यामी के कौन जान सकता है? अस्तु! पृथ्वीसिंह महता का दयानन्द का अवशिष्ट मूल्यांकन उनके उदात्त राष्ट्रीय स्वरूप को प्रस्तुत करता है जो नितान्त श्लाघनीय तो है ही, तथ्यपूर्ण भी है।

यहां यह लिख देना भी आवश्यक है कि पं. जयचन्द्र विद्यालंकार तथा पृथ्वीसिंह महता ने एक तथ्यान्वेषी जिज्ञासु इतिहासकार की ही भांति अपनी उपपत्तियां पूर्णतया पूर्वाग्रहमुक्त भाव से प्रस्तुत की हैं। उन्होंने अपनी धारणाओं की सिद्धि के लिये जो अनुमान एवं संभावनाएं व्यक्त की हैं, उनकी पुष्टि में वे अन्य प्रमाणों को भी तलाश करने के इच्छुक प्रतीत होते हैं। परन्तु कालान्तर में उनके इन निर्दोष अनुमानों के आधार पर कुछ पूर्वाग्रही लेखकों ने अपनी मतःप्रसूत कल्पनाओं के आधार पर ऐसे ऐसे मिथ्या प्रसंगों की अवतारणा करनी आरम्भ की जिनसे यह ध्वनि निकलती थी कि दयानन्द ही १८५७ की क्रान्ति के मूल प्रणेता तथा सूत्रधार थे, कि उस क्रांति के प्रमुख सूत्रधारों का स्वामीजी से निकट का सम्पर्क रहा था तथा वे उनसे विचार–विमर्श करने के एकाधिक अवसर प्राप्त कर पाये थे और स्वामीजी ने स्वयं अश्वारोही एवं खड्हस्त होकर सैनिक गतिविधियों का सूत्र–संचालन किया था। कल्पना–प्रवण लेखकों की यह कल्पनाधारा कहां जाकर समाप्त होगी इसका पूर्वानुमान करना कठिन है परन्तु यह निश्चित है कि दयानन्द जैसे सत्यनिष्ठ महापुरुष के चरित्र की आलोचना करते समय जिस प्रकार इतिहास के तथ्यों की अवगणना करने का अधिकार नहीं है उसी प्रकार सच्चाई को तोड़–मरोड़कर अतिशयोक्ति करने का अधिकार भी नहीं है।

Scanned by CamScanner